शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

आश्विन : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ६

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

शांति का स्त्रोत

अहो जीव! बाह्य विषय तो मृग-जलवत् है; उनमें कहीं भी तेरी शांति का स्त्रोत नहीं है। अनंतकाल से बाह्य विषयों में व्यर्थ प्रयत्न किये, तथापि तुझे शांति नहीं हुई—तृप्ति नहीं हुई। इसलिये उनमें शांति नहीं है—ऐसा समझकर अब तो उससे विमुख हो... और चैतन्यस्वरूप में अन्तर्मुख हो! चैतन्य सम्मुख होने पर क्षण मात्र में मुझे शान्ति का वेदन होगा... और उस शांति के स्त्रोत में तेरी आत्मा तृप्त-तृप्त हो जायेगी।

— पूज्य गुरुदेव

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१३८]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

सोनगढ़-सौराष्ट्र में दसलक्षणीपर्व

सौराष्ट्र के जैनधर्म के पाटनगर सोनगढ़ में दसलक्षणीपर्व बहुत धूमधाम से मनाया गया था। दसलक्षण धर्म के दिनों में प्रातः पू० श्री कानजी स्वामी के दशलक्षणधर्म सम्बन्ध में अद्‌भुत प्रवचन हुए और दुपहर को श्रीमानतुंगाचार्य विरचित आदिनाथस्तोत्र भक्तामर स्तोत्र ऊपर उपशान्त भक्तिरस झरते ऐसे प्रवचन हुए—मानो आदिनाथप्रभु और मानतुंगस्वामी अपने समक्ष ही उपस्थित हो और मानतुंगास्वामी आदिनाथप्रभु की स्तुति कर रहे हों। इसके उपरान्त हररोज दसलक्षण धर्म का सामूहिक पूजन होती थी, दसलक्षण मण्डलविधान किया गया था। भादों सुदी पंचमी के दिन १४ चौदह कुमारी लड़कियों की ब्रह्मचर्यप्रतिज्ञा हुई थी। दसलक्षण पर्व में बाहर गाँवों व अन्यनगरों से भी अनेक सज्जन उपस्थित हुए थे। श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा, श्री जिनवाणीमाता की रथयात्रा आदि भी हुए थे। क्षमावाणी पर्व के दिन श्री जिनमन्दिर में रत्नत्रय पूजन के पश्चात् बड़े भारी ठाट से सीमन्धर जिनेन्द्रदेव का महा अभिषेक सुवर्ण-चाँदी के कलशों से हुआ था। जिसमें पू० श्री कानजी स्वामी भी उपस्थित थे। सुगन्ध दशमी का दिन तो अपने अनोखे ढंग से मनाया गया था। श्री जिनमन्दिर में हमेशा अद्‌भुत जिनेन्द्रभक्ति होती थी, कभी-कभी मुनियों की भक्ति भी होती थी। भक्ति के प्रसंग में सभी भक्तजन एकतार हो जाते थे।

सोनगढ़ के उपरान्त सौराष्ट्र में जगह-जगह पर पू० स्वामीजी के उपदेश से जिनमन्दिर बने हैं—वहाँ सब जगह भी दशलक्षणी पर्यूषण पर्व बड़े उल्लास के साथ मनाया गया था।

—वर्तमान में पूज्य श्री कानजीस्वामी सोनगढ़ में ही बिराज रहे हैं, प्रवचन में समयसारजी व इष्टोपदेश का वाचन होता है। दीपावली के बाद आप पू० सम्मेदशिखरजी तीर्थधाम की अपूर्व यात्रा के लिये पालेज और बम्बई की तरफ प्रयाण करेंगे। इस तीर्थयात्रा के लिये हजारों भक्त-लोगों में बड़ा भारी उत्साह फैल गया है। पालेज में नूतन जिनमन्दिर की वेदी प्रतिष्ठा भी होनेवाली है। सोनगढ़ का जिनमन्दिर करीब रु. सवा लाख उपरान्त की लागत से बड़ा भव्य सुशोभित और उन्नत बन रहा है।

आत्मधर्म

आश्विन : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ६

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

''आत्मधर्म'' में इन ४७ शक्तियों पर पूज्य गुरुदेव के जो प्रवचन प्रकाशित होते हैं वे मुख्यतया आठवीं बार के प्रवचन हैं। उन आठवीं बार के प्रवचनों को मुख्य रखकर उनके साथ अभी तक छठवीं-सातवीं और नवमीं बार के प्रवचनों का मुख्य सार सम्मिलित कर दिया जाता था। किन्तु अब दसवीं बार प्रवचन हो जाने के कारण इस १८ वीं शक्ति से दसवीं बार के प्रवचनों का मुख्य सार भी सम्मिलित कर दिया गया है। इसप्रकार गुरुदेव के इन ४७ शक्तियों के छठवीं-सातवीं आठवीं-नवमी और दसवीं—पाँच बार के प्रवचनों का सार इस लेखमाला में प्रकाशित होता है। इस पर से जिज्ञासु पाठक समझ सकेंगे कि यह विषय कितना महत्त्वपूर्ण है।

[१८]

उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति

[-२-]

(अंक १३० से आगे)

आत्मा की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है। आत्मा में ज्ञान के साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवता भी प्रतिसमय हो रही है। आत्मा में अनंत गुण हैं, वे सब गुणरूप से ध्रुव

रहकर प्रतिसमय एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिवर्तित हो जाते हैं। सिद्ध के आत्मा में भी आनन्द का अनुभव प्रतिसमय परिवर्तित होता रहता है; आनन्द भले ही ज्यों का त्यों रहता है, किन्तु जो पहले समय का आनन्द था, वही दूसरे समय नहीं रहता; दूसरे समय आनन्द की नई अवस्था का उत्पाद और पहली अवस्था का व्यय होता है, तथा आनन्दगुण की अखण्डरूप से ध्रुवता बनी रहती है।—इसप्रकार पर्याय उत्पाद-व्यय से क्रमवर्ती है, और गुण ध्रुवरूप से अक्रमवर्ती हैं। ऐसा वस्तुस्वभाव है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—ऐसा सूत्र का वचन है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवता युक्त है। प्रतिसमय नयी पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश, और द्रव्य-गुण की स्थिरता समस्त वस्तुओं में होती है। उनमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें क्रमवर्ती है; एक साथ समस्त पर्यायें नहीं वर्ततीं, किन्तु एक के बाद एक वर्तती है; और ध्रुवरूप गुण अक्रमवर्ती हैं, समस्त गुण त्रिकाल एक साथ ही वर्तते हैं।

देखो, यह वस्तुस्वरूप! अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने से ही हैं। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्थारूप होता है। यह बात समझे तो, मेरी अवस्था दूसरा कोई बदल देता है—ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अपने ध्रुवस्वभाव की ओर उन्मुखता हो; ध्रुव के साथ पर्याय की एकता होने से निर्मलपर्यायरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

जिससमय अपूर्व सिद्धदशा का उत्पाद, उसीसमय संसारदशा का व्यय, और आत्मद्रव्य की ध्रुवता:, जिससमय सम्यग्दर्शन का उत्पाद, उसीसमय मिथ्यात्वदशा का व्यय, और श्रद्धागुण की ध्रुवता—इसप्रकार एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना वस्तु में त्रिकाल है, किन्तु जब उसका भान करके स्वाश्रय से परिणमित हो, तब निर्मलता का उत्पाद और मलिनता का व्यय होता है।

आत्मा के उत्पाद-व्यय अपने से ही हैं; इसलिये विकार भी अपने से ही होता है;—यह तो ठीक, किन्तु अपनी पर्याय में जिसे मात्र विकार की ही उत्पत्ति भासित होती है, उसने वास्तव में आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना। 'मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव मुझमें ही हैं'—ऐसा जिसने निर्णय किया, वह किसकी ओर देखकर किया? मेरे स्वभाव से ही मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं—ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि तो अपने स्वभाव पर आये, इसलिये उसके मात्र विकार की ही उत्पत्ति

नहीं रह सकती, उसके तो स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय प्रगट होकर साधकदशा प्रारम्भ हो जाती है। जिसे ऐसी साधकदशा होती है, उसी को पर्याय के विकार का यथार्थज्ञान होता है,—यह मूलभूत न्याय है।

अपने कारण से क्रमबद्ध 'विकार' होता है—इसप्रकार मात्र विकारदृष्टिवाले को वास्तव में क्रमबद्धपर्याय की अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है; क्योंकि यदि शक्ति की प्रतीति हो जाये तो शक्तिवान के अवलम्बन से निर्मल परिणमन प्रारम्भ हुए बिना न रहे। त्रिकाली गुणी के साथ अभेद होकर पर्याय का परिणमन हो, वह धर्म है।

'सर्वज्ञ भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में देखा है, इसलिये मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होते हैं'—इसप्रकार मात्र विकार के क्रम को देखनेवाले की दृष्टि महान विपरीत है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! तू सर्वज्ञ का नाम न ले, तूने सर्वज्ञदेव को माना ही नहीं है। तू सर्वज्ञ को नहीं मानता किन्तु मात्र विकार ही देखता है; तुझे क्रमबद्धपर्याय की भी खबर नहीं है। जो सर्वज्ञदेव को प्रतीति में ले, उसके तो अपनी साधकदशा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है, मात्र विकार का क्रम उसके नहीं रहता। जिसे स्वभाव के आश्रय से अमुक निर्मल परिणमन हुआ है, और शेष अल्प विकार रहा है—ऐसे साधक जीव की यह बात है। उसी को अपने क्रम-अक्रम स्वभाव की (उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वभाव की) तथा सर्वज्ञदेव की सच्ची प्रतीति हुई है। अकेले विकार के वेग में बहता हुआ आत्मा स्वभावशक्ति की प्रतीति कहाँ से करेगा? जो विकार के प्रवाह में बह रहा है, वह जीव किसके आधार से स्वभाव की प्रतीति करेगा, और किसके आधार से सर्वज्ञ को मानेगा? स्वभावोन्मुख जीव, विकार को भी यथावत् जानेगा और वही सर्वज्ञता को यथार्थतया मानेगा।

(१) जिसप्रकार कर्म का उदय हो, उसीप्रकार विकार होता है—ऐसा माननेवाले की मान्यता महान विपरीत है।

(२) कोई दूसरा ऐसा कहे कि सर्वज्ञभगवान ने अपनी पर्याय में विकार का होना ही देखा है, इसलिये विकार होता है—तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है।

(३) तीसरा कोई ऐसा कहे कि पर्याय का क्रमबद्ध होने का स्वभाव है; इसलिये विकार होता है, तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है, वास्तव में उसने क्रमस्वभाव को जाना ही नहीं। जिसके मात्र विकार का ही क्रम वर्तता है, उसे वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को श्रद्धा नहीं हुई है।

(४) चौथा कोई ऐसा कहे कि विकार होता है, उतना ही आत्मा है अथवा शुभराग, वह धर्म का कारण है—तो उसकी मान्यता भी विपरीत है।

(५) मेरा आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व आदि अनंत शक्तियों का पिण्ड है—इसप्रकार अनंत गुणों के पिण्डरूप ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से, गुणों में अक्रमता और पर्याय में निर्मल क्रम—ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ, और उसी को शक्तियों का सच्चा परिणमन हुआ, उसी ने यथार्थ रीति से सर्वज्ञदेव को जाना, उसी को क्रमबद्धपर्याय का भान हुआ; वह कर्म से विकार होना नहीं मानता, और विकार से लाभ नहीं मानता। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता रखकर, अस्थिरता के अल्प विकार को वह ज्ञाता यथावत् ज्ञेयरूप से जानता है।

पर्याय अन्तरोन्मुख होकर, त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ अभेद होकर परिणमित हुई, तभी सचमुच 'आत्मा को' माना है, और तभी आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अथवा गुणपर्यायरूप स्वभाव है, उसकी सच्ची प्रतीति कब हुई कहलाती है ? तो कहते हैं कि गुणी के अवलम्बन से निर्मल पर्याय प्रगट करे तब। जो मात्र विकार को ही देखते हैं, और उसी में तन्मय होकर परिणमित होते हैं, उन्होंने वास्तव में अनंत शक्ति सम्पन्न आत्मा को स्वीकार नहीं किया है। यदि अनंत शक्ति सम्पन्न आत्मा को माने तो उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणमन हुए बिना न रहे। किसी भी शक्ति की प्रतीति ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही होती है। अभेद आत्मस्वभाव का आश्रय लिये बिना उसकी एक भी शक्ति की यथार्थ पहिचान नहीं होती।

★ ★ ★ ★ ★

आत्मा के अनंत स्वभावों में से एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा वस्तुरूप से नित्यस्थायी रहकर, उसमें प्रतिसमय नई-नई अवस्थाएँ होती रहती हैं—ऐसा उसका स्वभाव है। वह अवस्था यदि अपने स्वभाव के साथ एकता करके परिणमित हो तो निर्मल होती है, और यदि पर के साथ एकता मानकर परिणमित हो तो मलिन होती है।

यहाँ तो उत्पाद-व्ययरूप पर्याय को क्रमवर्ती कहा है, उसमें से 'क्रमबद्धपर्याय' की बात निकालना है। इस क्रमबद्धपर्यायरूप स्वभाव के निर्णय में विकार की बात नहीं है किन्तु निर्मलपर्याय की ही मुख्य बात है; तथापि उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि विकारपर्याय उल्टी-सीधी हो जाती है ! परन्तु क्रमबद्धस्वभाव का निर्णय करनेवाले की दृष्टि साधकस्वभाव पर होती है,

इसलिये वह दृष्टि विकार को स्वीकार नहीं करती, इसलिये निर्मलपर्याय की ही मुख्यता है।

एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता यह तो जैनशासन की मुख्य बात है; उत्पाद-व्यय और ध्रुवता तीनों एक समय में—ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति करे तो वीतरागी दृष्टि हो जाये। जिसप्रकार रवि-सोम-मंगल सातों वार एक के बाद क्रमशः होते हैं, उसी प्रकार पर्यायें क्रमशः होती हैं। पहले समय की अवस्था दूसरे समय नहीं रहती किन्तु उसका व्यय हो जाता है। कोई जीव एक पर्याय को दूसरे समय रखना चाहे तो भी नहीं रह सकती—ऐसा ही स्वभाव है। इसलिये क्या करना चाहिये ?—कि ध्रुवस्वभाव जो नित्य स्थायी शुद्ध ज्यों का त्यों है, उसके सन्मुख देख, और उसमें दृष्टि की एकाग्रता कर तो उस ध्रुव के आधार से पर्याय का निर्मल परिवर्तन हो जायेगा। वहाँ भी प्रतिसमय परिवर्तन तो होगा, किन्तु वे पर्यायें निर्मल ज्ञान-आनन्दस्वरूप होती जायेंगी।

एक समय की पर्याय दूसरे समय नहीं रहती, दूसरे समय नई पर्याय हो—ऐसा उत्पाद-व्यय स्वभाव है, और द्रव्य का कभी विनाश न हो—ऐसा ध्रुवस्वभाव है, उत्पाद-व्यय और ध्रुव पृथक्-पृथक् नहीं है किन्तु एक ही वस्तु का वैसा स्वभाव है। ज्ञानी या अज्ञानी सभी आत्माओं को उत्पाद-व्यय-ध्रुव प्रतिसमय वर्तते ही हैं, किन्तु उनमें अंतर इतना है कि ज्ञानी के तो स्वभावदृष्टि से निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति होती जाती है और अज्ञानी के विकार में ही आत्मबुद्धि होने से विकारी पर्यायों की उत्पत्ति होती है। बस, यही धर्म-अधर्म है; मोक्षमार्ग और संसार—मार्ग इसी में आ जाते हैं।

मेरे आत्मा में एकसाथ अक्रमरूप से अनंत गुण प्रवर्तमान हैं और पर्याय प्रतिसमय मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव से बदलती है;—इसप्रकार, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभावी आत्मा को पहिचानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे, वहाँ मिथ्यात्व का उत्पाद रहता ही नहीं।

आत्मा का कौन-सा समय पर्याय रहित होता है ? उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति आत्मा में अनादि-अनंत है, इसलिये तीन काल में एक भी समय पर्याय रहित नहीं है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव से प्रतिसमय पर्यायें होती ही रहती हैं। इसलिये निमित्त आये तो पर्याय होती है और न आये तो नहीं होती—यह बात नहीं रहती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा होने पर ज्ञातादृष्टापने का वीतरागभाव प्रगट होता है, पर्याय के क्रम को बदलने की या राग के कर्तृत्व की बुद्धि नहीं रहती। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति में क्रम-अक्रमता आती है; उस क्रम-अक्रमता की प्रतीति अकेली

पर्याय को देखने से नहीं हो सकती; अनंत शक्तिवान स्वभाव की ओर देखने से ही क्रम-अक्रमपने की प्रतीति होती है, और ऐसी प्रतीति करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। इसप्रकार पर्यायबुद्धि का नाश और स्वभावबुद्धि की उत्पत्ति इन शक्तियों को समझने का फल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति आत्मा में भी है और जड़ में भी है। आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में शरीर की क्रिया नहीं है, शरीर की क्रिया तो जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे से भिन्न हैं। मन-वाणी-देह-लक्ष्मी आदि के उत्पाद-व्यय का आत्मा में अभाव है, उन जड़ के उत्पाद-व्यय आत्मा से भिन्न हैं, इसलिये उनसे आत्मा में कुछ नहीं होता और न आत्मा उनका कुछ करता है। शरीर-लक्ष्मी आदि जड़ का सदुपयोग करके मैं धर्म प्राप्त करूँ, यह बात भी नहीं रहती। कोई ऐसा विचार करे कि खरगोश के सींगों पर मैं अच्छी चित्रकारी करूँ।—तो वह उसकी भ्रमण है; क्योंकि खरगोश के सींगों का अभाव है। जिसप्रकार खरगोश के सींगों का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा में देहादि जड़ का अभाव है; इसलिये उन देहादि के सदुपयोग द्वारा धर्म करूँ—यह भी अज्ञानी की भ्रमणा ही है।

अपने ज्ञानस्वभाव के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में आत्मा वर्तता है; अकेला पुण्य-पाप में प्रवर्तमान हो, वह वास्तव में आत्मा नहीं है, और जड़ की क्रिया में तो आत्मा कभी वर्तता ही नहीं है; जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में जड़ वर्तता है। अज्ञानी पर की क्रिया का अभिमान करके, अपने अनंत गुणों का अनादर करता हुआ अनादि काल से विकार में ही प्रवर्तमान है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। अपने गुण-पर्यायों में अभेद होकर वर्ते, वह आत्मा है। आत्मा और उसके गुणपर्यायों में सचमुच भेद नहीं है, अनादि से अपने गुण-पर्यायों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से आत्मा प्रवर्तमान ही है, किन्तु अज्ञानी उस ओर नहीं देखता, इसलिये विकाररूप परिणमित होता है। अपने स्वभाव सन्मुख होकर निर्मलदशारूप परिणमित होना और मलिनता का नाश करना तथा ध्रुवरूप से स्थित रहना—वह आत्मा का कर्तव्य है। कर्तव्य कहो या मोक्ष का उपाय कहो। अज्ञानी अपने ऐसे कर्तव्य से च्युत होकर विकाररूप परिणमित होता है, किन्तु पर में तो वह भी किंचित् कर्तव्य नहीं कर सकता। वस्तु के उत्पाद-ध्रुवस्वभाव को बराबर समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तुस्वभाव को स्वीकार किये बिना किसी प्रकार धर्म नहीं हो सकता और न मिथ्यात्वादि पाप मिट सकते हैं।

जिसने ज्ञानानन्दस्वभाव-सन्मुख होकर उसका स्वीकार किया, उसे आत्मा के अनंत गुणों का आदर है, और क्षणिक विकार का आदर नहीं है। जहाँ अनंत गुणों का आदर है, वहाँ चारित्रदोष की आसक्ति के अल्प पाप परिणाम हों, तथापि वे बहुत मंद हैं, अनंत गुणों के आदर के निकट उनकी कोई गिनती नहीं है; और अज्ञानी जीव आत्मस्वभाव के अनंत गुणों का अनादर करके क्षणिक विकार का आदर करता है;—वह जीव, पुण्यपरिणाम करता हो, तथापि उस समय भी धर्म के अनादर के अनंत पाप का सेवन कर रहा है। मूल धर्म क्या है और मूल पाप क्या है ? उसे समझे बिना जीवों का अधिकांश भाग पुण्य में या बाह्यक्रिया में ही धर्म मानकर अटक रहा है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई ! अनंत गुणों का आधार ऐसा तेरा आत्मस्वभाव है, उसका आदर करना ही मुख्य धर्म है; और उस स्वभाव का अनादर ही महान पाप है। स्वभाव के आदर से विकार दूर होता है; उसके बदले जो विकार के आधार से विकार को दूर करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव का तिरस्कार कर रहा है।

शरीर-मन-वाणी के परिवर्तन की क्रिया (उत्पाद-व्यय) आत्मा में स्वरूप में नहीं है, इसलिये वह क्रिया आत्मा की नहीं है और न आत्मा को उससे धर्म होता है।

पुण्य-पाप के उत्पाद-व्ययरूप क्रिया जीव की पर्याय में होती है, किन्तु वह विकारी क्रिया है; वह भी जीव को हित का कारण नहीं है, उसके लक्ष से हित नहीं होता।

जीव की पर्याय में निर्मलता के उत्पादरूप क्रिया हो, वह धर्म है; किन्तु उस निर्मलता की उत्पत्ति किसके लक्ष से होती है ? पर्याय-सन्मुख लक्ष रखने से तो विकार की उत्पत्ति होती है, निर्मल पर्याय के लक्ष से भी निर्मलता की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्याय का लक्ष भी हितकारी नहीं है। पूर्ण शक्तिसम्पन्न ध्रुवस्वभाव है, उसी के लक्ष से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट होती है और वही हितरूप है। यहाँ आचार्य भगवान आत्मा की शक्तियाँ बतलाकर उन्हीं का आश्रय कराना चाहते हैं।

आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तमान हो। समस्त गुण एक साथ अनादि-अनंत अक्रम विद्यमान हैं, और अनादि-अनंत काल की पर्यायें क्रमवर्तीरूप से स्थित है; वे अपने व्यवस्थित क्रमानुसार एक के बाद एक वर्तती हैं—ऐसा क्रमवर्ती स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को स्वीकार करने पर एक-एक पर्याय या एक-एक गुण पर से दृष्टि हटकर अनंत गुणों के

पिण्डरूप अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि स्थिर हो जाती है, और उस दृष्टि में क्रमशः निर्मल पर्यायों को उत्पत्ति होती है।—इसका नाम साधकदशा और यही मोक्ष का मार्ग!

अपने ऐसे स्वभाव का यथार्थ श्रवण करके उसका ग्रहण और धारण पूर्व अनंत काल में एक क्षण भी नहीं किया है। जो जीव एक बार भी ज्ञानी के पास से ऐसे स्वभाव की बात सुनकर अंतरंग उल्लासपूर्वक उसे ग्रहण कर ले तो अल्प काल में उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। 'मेरा स्वभाव क्या है?'—ऐसा लक्ष करके जीव ने कभी सच्चा श्रवण नहीं किया। पूर्वकाल में कभी सुनने को मिला और धारण भी की किन्तु आत्मा में उसे अपना बनाकर नहीं जमाया।

देखो, यह आत्मा अनादि-अनंत ज्ञानस्वभावी वस्तु है; उसके ज्ञानादि गुण नये बनाये गये हैं या अकृत्रिम है? यदि नये बनाये गये हों तो वे क्षणिक होंगे और उनका नाश हो जायेगा; इसलिये आत्मा का ही नाश हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। 'पर्यायें' नवीन उत्पन्न होती हैं और उनका नाश होता है; किन्तु गुण कभी नये उत्पन्न नहीं होते और न उनका कभी नाश होता है। गुण तो वस्तुनिष्ठ हैं, वस्तु में अनादि-अनंत स्थित हैं। वस्तु या उसके गुण नवीन उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उसकी अवस्था नई होती है; और वस्तु या उसके गुणों का नाश भी नहीं होता; किन्तु उसकी पर्यायें नष्ट होती हैं। जैसे कि—जीव में सिद्ध-पर्याय की उत्पत्ति नवीन होती है और संसारपर्याय नष्ट हो जाती है, किन्तु कहीं जीवद्रव्य या उसके ज्ञानादि गुण नये उत्पन्न नहीं होते; और न उनका नाश होता है;—वे तो सिद्धदशा या संसारदशा के समय एकरूप ध्रुव रहते हैं।—ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव है।

वस्तु के समस्त गुण ध्रुवरूप से एक साथ रहते हैं, किन्तु पर्यायें एक साथ प्रवर्तमान नहीं होतीं—एक के पश्चात् एक वर्तती है। जिसप्रकार सुवर्ण में उसका पीलापन, वजन आदि एक साथ रहते हैं, किन्तु उसकी हार, मुकुट आदि अवस्थाएँ एक साथ नहीं वर्ततीं—ऐसा ही उसका पर्याय-स्वभाव है। हार टूटकर मुकुट हुआ, वहाँ वह अवस्था स्वर्णकार ने नहीं की है, किन्तु सुवर्ण के ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के कारण उसमें मुकुट अवस्था की उत्पत्ति और हार अवस्था का व्यय तथा सुवर्ण की ध्रुवता है। जो वस्तु के उत्पाद व्यय-ध्रुव-स्वभाव को नहीं जानता, वही दूसरे के कारण अवस्था का होना मानता है; उसकी मान्यता वस्तुस्वभाव से विपरीत अर्थात् मिथ्या है।

पुनश्च, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के लक्ष से वीतरागता होती है; उत्पाद-व्यय के लक्ष से

राग-द्वेष होता है। जिसप्रकार सुवर्ण में हार-अवस्था का नाश होकर मुकुट-अवस्था की उत्पत्ति हुई; वहाँ जो पुरुष हार-अवस्था की इच्छा रखता है, उसे उस अवस्था का व्यय होने से द्वेष होता है, जो पुरुष मुकुट-अवस्था की इच्छा रखता है, उसे उस अवस्था की उत्पत्ति होने से राग होता है; किन्तु जो पुरुष सुवर्ण की ध्रुवता को देखता है, उसे तत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि सुवर्ण तो हार या मुकुट-अवस्था के समय ज्यों का त्यों ध्रुव है। उसीप्रकार आत्मा के ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागता होती है और क्षणिक पर्याय के उत्पाद-व्यय के लक्ष से तो राग-द्वेष होता है।

पर से उत्पाद-व्यय हो, ऐसी बात तो है ही नहीं। जिसप्रकार सुवर्ण में ताँबे का जो भाग होता है, वह उसका मूलस्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा को पर्याय में राग-द्वेष हो, वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये आत्मा के स्वभाव को देखनेवाला राग-द्वेष से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वीतरागता-निर्मलतारूप से उत्पन्न होता है। यहाँ स्वभावदृष्टि में निर्मल क्रम की बात है। वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न हो। उस स्वभाव को जो बदलना चाहे, वह मिथ्यादृष्टि होती है। क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तमान जो ज्ञायकस्वभाव है, उसमें एकाग्र होनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होकर निर्मलपर्याय में क्रमशः आगे बढ़ता-बढ़ता केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तु का स्वभाव, सो धर्म है; उसका यह वर्णन है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप जो वस्तुस्वभाव है, उसका भान होने पर पर्याय में धर्म का प्रारंभ होता है। मेरा ज्ञानस्वभाव अनंत गुणों का भण्डार है—ऐसी जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ क्रम-अक्रम वर्तनरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है; और ऐसी स्वभाव की प्रतीति होने पर शक्ति के भंडार में से निर्मलपर्यायों का क्रम भी प्रारम्भ हो गया।—इसप्रकार शक्ति के साथ पर्याय को सम्मिलित करके यह बात कही है।

क्षणिकपर्याय के लक्ष से राग की उत्पत्ति होने से हानि होती है, उसके बदले पर्याय के लक्ष से लाभ होना (—सम्यग्दर्शनादि होना) माने, वह मिथ्यादृष्टि है। पर्याय के आश्रय से लाभ माननेवाला क्षणिकपर्याय को ही वस्तु का सर्वस्व मानता है, इसलिये वह पर्याय की दृष्टि छोड़कर द्रव्यस्वभाव में दृष्टि नहीं करता, इसलिये उसे सम्यग्दर्शनादि का लाभ नहीं होता है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है। ध्रुवस्वभाव अर्थात् परमज्ञायकस्वभाव; उसका

विश्वास करके उसमें एकाग्रता करने से वीतरागी समभाव रहता है—मात्र पर्याय के विश्वास से कदापि वीतरागी समभाव नहीं रह सकता।

आत्मा का स्वभाव वीतरागी ज्ञाता है, उसी स्वभाव की ओर ढलकर ज्ञाता रहे तो क्रमबद्धपर्यायों का वीतरागभाव से यथावत् ज्ञाता रहता है; किन्तु जो ज्ञातृत्व से च्युत होकर फेरफार करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। जिसप्रकार प्रकृति क्रम में सात दिन या अट्ठाईस नक्षत्रों का जो क्रम है, वह कभी बदल नहीं सकता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है, उसके ज्ञान में भूल होती है। उसी प्रकार पदार्थों की समस्त पर्यायों का जो क्रम है, वह कभी परिवर्तित नहीं होता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है, उसके ज्ञान में भूल होती है; इसलिये वह ज्ञाता न रहकर मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता ही रहता है। साधकदशा के क्रम में बीच में अस्थिरता का जो राग होता है, उसका भी वह ज्ञाता है।

देखो यह 'क्रमबद्धपर्याय' की अटपटी बात है... किन्तु सरल होकर ज्ञानस्वभाव की महिमा लाकर समझना चाहे तो बिल्कुल सीधी है, यह अपने स्वभाव के घर की बात है। यह अंतर में जमे बिना किसी प्रकार मार्ग हाथ नहीं आ सकता। सबका ज्ञाता स्वयं है; स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किये बिना ज्ञान का सच्चा कार्य कहाँ से होगा? श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि—

अपना ज्ञानस्वभाव सबका ज्ञाता है; उस ज्ञानस्वभाव का निर्णय किये बिना ज्ञान का सच्चा कार्य कहाँ से होगा? श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि—

'घट पट आदि जाण तुं तेथी तेने मान;
जाणनारने मान नहि, कहिये केवुं ज्ञान?'

अपने ज्ञान में घट-पटादि ज्ञात होते हैं; उन घट-पटादि को तो माने, किन्तु उनका ज्ञान करनेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को न पहिचाने, तो वह ज्ञान कैसा? वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। अरे भाई! तू पर को तो जानता है और जो ज्ञाता स्वयं है, उसे नहीं जानता—यह आश्चर्य है। उसीप्रकार यहाँ क्रमबद्ध में भी विकार का और पर का क्रम माने, किन्तु उस क्रम का ज्ञान करनेवाले अपने ज्ञायकस्वभाव को न जाने तो वह ज्ञान कैसा है?—कहते हैं कि मिथ्या है।

पहले अल्प ज्ञान हो और फिर अधिक हो जाये, वहाँ—मेरा ज्ञानस्वभाव बदलकर (परिणमित होकर) यह विशेष ज्ञान आया है—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता, किन्तु शास्त्रादि बाह्य

संयोगों से ज्ञान प्राप्त हुआ—ऐसा वह मूढ़ मानता है; इसलिये संयोगों का लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे ज्ञानस्वभाव का परिणमन होकर उसमें से यह ज्ञान आया है; ऐसा जानने पर ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होकर परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। यदि राग के आश्रय से ज्ञान में वृद्धि होती हो तो राग बढ़ने से ज्ञान बढ़ता जाये और अतिराग से परमात्मदशा प्रगट हो जाये; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। राग का सर्वथा अभाव होने के पश्चात् ही केवलज्ञान और परमात्मदशा प्रगट होती है, इसलिये राग, ज्ञान का कारण नहीं है। और संयोग के लक्ष से ज्ञान में वृद्धि होती हो तो ऐसा नहीं दिखता परन्तु संयोग का लक्ष छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभाव में लक्ष करके लीन होने पर ही केवलज्ञान होता है; इसलिये संयोग के लक्ष से ज्ञान नहीं बढ़ता। सम्यग्दर्शन के लिये, सम्यग्ज्ञान के लिये या सम्यग्चारित्र के लिये अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई आधार है ही नहीं। धर्म में अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय का अभाव है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव से आत्मा तो अपने गुणों में अक्रमरूप वर्तता है और पर्यायों में क्रमरूप।—इसप्रकार क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तन ही आत्मा का वर्तन है। इसके सिवा आत्मा कभी अपने गुण-पर्यायों से बाहर नहीं वर्तता, इसलिये बाह्य में आत्मा का वर्तन है ही नहीं। अमुक प्रकार से आहार लेना और अमुक वेश में रहना—इसप्रकार आहार या वेश में सचमुच आत्मा का वर्तन नहीं है, उसमें तो जड़ का वर्तन है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय में वर्तता है, वही उसका वर्तन है। आत्मा का वर्तन कैसे सुधरे? अनादि काल से संयोग और विकार में अपनत्व मानकर विकारी पर्याय में वर्तता है, वह अशुद्ध वर्तन है; संयोग और राग से पार, ज्ञानानन्दस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानने से निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, उन निर्मल पर्यायों के क्रम से वर्तना, वह आत्मा का शुद्ध वर्तन है और वही मोक्ष का कारण है। स्वभावोन्मुख होने पर ऐसा शुद्ध वर्तन हुआ, उसमें त्याग और प्रतिज्ञा आदि सबका समावेश हो जाता है; जो शुद्ध वर्तन प्रगट हुआ, उसके विपरीतता का (असत्यादि का) त्याग ही वर्तता है, और उसमें असत् का अभाव ही वर्तता है; इसलिये न करने की प्रतिज्ञा भी उसमें आ ही गई। सर्व प्रथम स्वभाव की सच्ची समझ करना ही अनादिकालीन असत्य का त्याग है। मिथ्यादृष्टि को अनादि से 'धर्म का त्याग' है, वह अधर्म है; आत्मा की सच्ची समझ होने पर उस अधर्म का त्याग हो जाता है। प्रथम सच्ची समझ द्वारा अनादिकालीन मिथ्यात्व

का त्याग किये बिना अव्रत आदि का त्याग कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ कहते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति से द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में वर्तता है। इसमें 'वर्तने' पर भार है। गुण में अक्रमरूप वर्तता है और पर्याय में क्रमरूप वर्तता है;—कौन वर्तता है? आत्मद्रव्य। इसलिये ऐसा निर्णय करनेवाले को किसी भी पर्याय में आत्मद्रव्य की दृष्टि-प्रतीति नहीं छूटती। प्रत्येक पर्याय में अखण्ड द्रव्य वर्तता है; इसप्रकार वर्तनेवाले पर (द्रव्य पर) दृष्टि गई, वहाँ पर्यायबुद्धि छूटकर पर्याय में निर्मलता हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक आत्मा का ऐसा स्वभाव है; किन्तु यहाँ दूसरे आत्मा का काम नहीं है; स्वयं अपने स्वभाव का निर्णय करके स्वोन्मुख होने की बात है। जो स्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता हुआ, वह अपने स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य से पर को ज्यों का त्यों जानता है। स्वसन्मुख होकर स्वभाव में वर्तन हो, वहाँ विकार या संयोग का वर्तन नहीं रहता और निर्विकार असंयोगीदशा प्रगट होती है, उसका नाम मोक्ष है।

आत्मस्वभावोन्मुख होकर, 'आत्मा पवित्र है'—ऐसा जिस ज्ञानपर्याय ने जाना, वह पर्याय स्वयं भी पवित्र हुई है, पवित्र स्वभाव के आश्रय से उसमें भी पवित्रता की वृद्धि होती जाती है।—इसप्रकार स्वभावशक्ति की प्रतीति का फल मुक्ति है।

बाह्य में रूखा भोजन करें, उसे लोग धर्म मान लेते हैं; किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि अरे भाई! जड़ से और राग से अपने आत्मा की भिन्नता का तुझे भान नहीं है और उसे तू धर्म मानता है, तो तू रूखा नहीं किन्तु चिकना ही खाता है; तू राग की चिकनाई का ही उपभोग कर रहा है, किन्तु राग से रूखा ऐसा जो वीतरागी ज्ञानभाव है, उसकी तुझे खबर नहीं है। तुझमें मिथ्यात्वरूपी चिकनाई भरी है, वह महान अधर्म है। राग को या जड़ के संयोग को ज्ञानी अपना आत्मस्वरूप नहीं मानते, किन्तु अपने आत्मा का रागादि से भिन्न ही अनुभव करते हैं; ज्ञानानन्दस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान में उन्हीं को रूखा-रागरहित-भाव है; आत्मा के शांतरस से परिपूर्ण और राग के रस से रहित ऐसा जो ज्ञानी का भाव है, वही धर्म है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवता स्वभाव से आत्मा स्वयं प्रतिक्षण परिणमित होता है और ध्रुवरूप से स्थित भी रहता है। शब्दों के कारण ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेष ज्ञानरूप से परिणमित होता है। ध्रुवज्ञानस्वभाव के आधार से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—यदि सुनने के कारण ज्ञान नहीं होता, तो फिर किसलिये सुनें ?

उत्तर—सुनने के कारण ज्ञान नहीं होता—यह बात सच है, लेकिन वह निर्णय किसने किया ? जिसने ऐसा निर्णय किया है, उसके राग की दिशा बदलकर सत्श्रवणादि की ओर ढले बिना नहीं रहेगी। जिज्ञासु भूमिका में मिथ्यात्व के निमित्तों की ओर की वृत्ति छूटकर सत् निमित्तों की ओर ही वृत्ति जाती है और ज्ञानी के निकट से सत्श्रवण का भाव, सत्श्रवण का प्रेम और उत्साह आता है। 'वाणी से ज्ञान नहीं होता, इसलिये सुनने का क्या काम है!'—ऐसा स्वच्छंद का भाव उसे आयेगा ही नहीं। सत् श्रवण के समय भी मंथन तो अपने ही भाव का हो रहा है न! हाँ, श्रवण के समय भी राग पर या पर्याय पर उसका भार नहीं होता, किन्तु ज्ञानी जो स्वभाव समझाना चाहते हैं, उस स्वभाव की ओर ही उसका भार होता है... जहाँ से ज्ञान का प्रवाह आता है, ऐसे द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन करना ही ज्ञानी बतलाते हैं और सच्चे श्रोता का भार भी उसी पर है। इसके सिवा राग से या वाणी से ही लाभ मानकर उस पर जो भार दे, वह सच्चा श्रोता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं कहते।

पुनश्च, सत् स्वभाव का भान होने के पश्चात् ज्ञानी को भी बारम्बार सत्श्रवण का भाव आता है; वहाँ सचमुच वाणी सुनने का राग नहीं किया है, किन्तु अपनी निर्बल भूमिका होने से राग हो गया है, और उस राग का लक्ष सत् निमित्त की ओर ही ढलता है। उस राग और श्रवण के समय भी ज्ञान की रुचि का जोर तो अपने सत् स्वभाव की ओर ही है, निमित्त या राग पर उसकी रुचि का जोर नहीं है। रुचि का जोर किस ओर काम कर रहा है, उस पर धर्म-अधर्म का आधार है। आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है, उसे पहिचाने तो पर की या विकार की ओर रुचि का जोर न रहकर ध्रुवस्वभावोन्मुख ही हो जाये। आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता आदि अनंत शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित हो रही हैं।

प्रश्न—आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं—ऐसा भगवान ने देखा है, इसलिये कहते हो ?—या आत्मा में है, उसे जानकर कहते हो ?

उत्तर—वस्तु के स्वभाव में ऐसा है और भगवान ने भी ऐसा ही देखा है;—लेकिन भगवान की प्रतीति किसने की ? सर्वज्ञ भगवान की प्रतीति करनेवाले के अपना ज्ञान है न!! इसलिये अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, उसी में यह सब आ जाता है। अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति को साथ

लिये बिना अकेले, भगवान के नाम से माने, वह यथार्थ मार्ग नहीं है। यह बात तो अपने आत्मा को साथ लेकर है। अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसकी प्रतीति किये बिना भगवान की या भगवान के मार्ग की सच्ची पहिचान नहीं होती। यहाँ आत्मा की शक्तियों के वर्णन में भी, अभेद आत्मस्वभाव के आश्रयपूर्वक ही उसकी शक्तियों का निर्णय हो सकता है—ऐसा समझना।

—आत्मा की अनंत शक्तियों में से, अट्ठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति का वर्णन यहाँ पूरा हुआ।

कुछ प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—अपराधी कौन ?

उत्तरः—जो परद्रव्य को अपना माने वह।

प्रश्नः—निरपराधी कौन ?

उत्तरः—जो अपने शुद्ध आत्मा को ही अपना मानता है, और उसके अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य को किंचित् भी अपना नहीं मानता वह।

प्रश्नः—बंधन होने की शंका किसे होती है ?

उत्तरः—जो अपराधी हो उसे।

प्रश्नः—'मैं नहीं बँधूँगा'—ऐसी निःशंकता किसे होती है ?

उत्तरः—जो निरपराधी हो उसे।

(—देखिये समयसार गाथा ३०१-२-३)

हे मोक्षपुरी के पथिक!

सम्यग्दर्शनादिक शुद्धभाव शिवपुरी का पंथ है; और वह पंथ श्री जिनेन्द्र भगवन्तों ने 'प्रयत्नसाध्य' कहा है; इसलिये तू उद्यम द्वारा सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को जानकर उन्हें अंगीकार कर!

★

(श्री भावपाहुड़ गाथा ६ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

[वीर सं. २४८१ आश्विन कृष्णा १४]

★

आत्मा के परम आनन्दस्वरूप जो मोक्षदशा, उसका वास्तविक पंथ क्या है—वह जाने बिना, अज्ञानी जीव अनादिकाल से बाह्य साधन को ही मोक्षमार्ग मान रहा है और इसलिये वह संसार में भी भटक रहा है। मोक्ष का कारण तो 'भाव' है;—कौन-सा भाव? आत्मा के स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धभाव ही मोक्ष का पंथ है। इसलिये आचार्य-भगवान इस 'भाव प्राभृत' में कहते हैं कि—हे मोक्षपुरी के पथिक!—मोक्ष को चाहनेवाले हे मुमुक्षु! प्रथम तो तू सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को जान; अकेले भावरहित द्रव्यलिंग से तुझे क्या प्रयोजन है?—उससे कोई सिद्धि नहीं है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही मोक्ष का कारण जानकर उनकी प्राप्ति का उद्यम कर, क्योंकि श्री जिनेन्द्रदेव ने मोक्षपुरी का पंथ प्रयत्नसाध्य कहा है।

आत्मा का सम्यग्दर्शन क्या, सम्यग्ज्ञान क्या, और सम्यक्चारित्र क्या—उन शुद्धभावों को तो जो नहीं पहिचानता और मात्र बाह्य द्रव्यलिंग को (शरीर की दिगंबरदशा को) तथा व्रतादि के शुभराग को ही मोक्ष का कारण मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे शिवपुरी के मार्ग की खबर नहीं है। आचार्यदेव उसे शिवपुरी का मार्ग बतलाते हैं कि—हे भाई! जिनेश्वरदेव ने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, इसलिये पहले प्रयत्नपूर्वक उन शुद्धभावों को जान और उनकी आराधना का उद्यम कर:—

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय! शिवपुरी पंथ जिणउवइट्ठं पयत्तेण॥६॥

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेन भावरहितेन।
पथिक! शिवपुरीपंथाः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन॥६॥

आचार्यदेव प्रेमपूर्वक सम्बोधन करके कहते हैं कि—हे शिवपुरी के पथिक! हे मोक्ष के अभिलाषी! मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शनादि भावरूप है; वह सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप मोक्षमार्ग प्रयत्न द्वारा सधता है—ऐसा भगवान ने उपदेश दिया है। भगवान ने स्वयं प्रयत्न द्वारा मोक्षमार्ग को साधा है और उपदेश में भी ऐसा ही कहा है कि मोक्ष का मार्ग प्रयत्नसाध्य है। इसलिये उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही मोक्ष का पंथ जानकर सर्व उद्यम द्वारा उसे अंगीकार कर। हे भाई! सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों से रहित ऐसे द्रव्यलिंग से तुझे क्या साध्य है? मोक्ष तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों से ही साध्य है, इसलिये उसका प्रयत्न कर। उन शुद्धभावों के अतिरिक्त बाह्यलिंग या व्रतादि शुभराग कोई मोक्ष का साधन नहीं है। बाह्यलिंग या शुभराग के साधन द्वारा कहीं भगवान ने मोक्ष प्राप्त नहीं किया है और न उन्हें मोक्ष का साधन कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध वीतरागी भाव ही परमार्थ—एकमात्र—मोक्ष का साधन है—ऐसा भगवान ने कहा है। इसलिये हे मोक्ष के पंथी! ऐसा जानकर तू प्रयत्न द्वारा शुद्धभाव को अंगीकार कर!

आचार्यदेव उद्यम करने की कहते हैं; स्वभाव के उद्यम बिना—प्रयत्न बिना मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती। भगवान ने मोक्षमार्ग को प्रयत्नसाध्य कहा है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों के उद्यम बिना किसी जीव को मोक्ष की सिद्धि हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। इसलिये, श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—'जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।'

प्रश्नः—पर्याय तो क्रमबद्ध होती है न! तो फिर पुरुषार्थ करने को किसलिये कहते हो?

उत्तरः—अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय के निर्णयवाले को भी पुरुषार्थ तो साथ ही है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में और प्रयत्न में कोई विरोध नहीं है; अर्थात् क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार किया, इसलिये अब पुरुषार्थ नहीं रहा—ऐसा नहीं है। पर्याय क्रमबद्ध होती है—यह बात तो ऐसी ही है; किन्तु क्या वह क्रमबद्धपर्याय बिना पुरुषार्थ के होती है? भाई! क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय भी ज्ञानस्वभाव-सन्मुख पुरुषार्थ द्वारा ही होता है, और मोक्षमार्ग भी उसी प्रयत्नपूर्वक साध्य है। इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य! हे मोक्षार्थी! अन्य सब बातें छोड़कर पहले तू भाव को जान और उसका उद्यम कर। मोक्ष के कारणभूत भाव कौन-से हैं, उन्हें पहिचान। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—यह तीनों वीतरागी शुद्धभाव हैं और वे भाव ही मोक्ष के

कारण हैं; इसके अतिरिक्त बाह्य में शरीर की नग्नदशा या शुभराग कहीं मोक्ष का कारण नहीं है;—ऐसा जानकर... प्रयत्न द्वारा जानकर तू उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों का उद्यम कर; सर्व उद्यम द्वारा तू आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना कर—वही मुक्तिपुरी का पंथ है।

मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही प्रथम जानना कहा। 'जानीहि भावं प्रथमं' पहले दूसरा कुछ जानने की बात नहीं की; 'तू प्रथम निमित्त को जान या राग को जान'—ऐसा नहीं कहा; किन्तु मोक्ष के यथार्थ कारणरूप ऐसे सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को प्रथम जानने को और प्रयत्न द्वारा जानने को कहा।

अब, यह सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव तो पर्याय है, वह पर्याय कहीं जीव के अनादि से नहीं है किन्तु प्रयत्न द्वारा नवीन प्रगट होती है; यहाँ उन शुद्ध-भावों को जानने को कहा है। तो शुद्धभाव को अर्थात् शुद्धपर्याय को वास्तव में किसप्रकार जाना जा सकता है ? अंतर्मुख होकर शुद्ध आत्मद्रव्य को जानने से उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपर्याय भी ज्ञात हो जाती है;—इसप्रकार प्रयत्न द्वारा द्रव्योन्मुख होकर शुद्धभाव प्रगट कर—ऐसा उपदेश है, और वह शुद्धभाव प्रगट करके उसी को तो तू मोक्ष का परमार्थ कारण जान। शुद्ध द्रव्यस्वभावोन्मुखता के प्रयत्न बिना शुद्धभाव होता ही नहीं, तो उसका ज्ञान कहाँ से होगा ? जहाँ अन्तर्मुख प्रयत्न से द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर उसका ज्ञान किया, वहाँ द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुए शुद्धभाव का ज्ञान भी साथ ही हो जाता है, क्योंकि शुद्धपरिणाम हुए, वे द्रव्य के साथ अभेद हैं।—इसप्रकार शुद्धभाव की पहिचान भी द्रव्य के ही आश्रय से होती है; अकेली पर्याय के लक्ष से शुद्धभाव का ज्ञान नहीं होता।

यहाँ पहले व्यवहार को या निमित्त को जानना नहीं कहा किन्तु शुद्धभाव को जानना कहा है। जहाँ शुद्धद्रव्य को लक्ष में लिया, वहाँ पर्याय भी शुद्ध हुई अर्थात् सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट हुआ; उसी में मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ है। इसलिये हे शिवपुरी के पथिक! स्वभावोन्मुख होकर प्रयत्न द्वारा तू शुद्धभाव को जान। पहले यही प्रयत्न कर, इस प्रयत्न द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि है। ऐसे प्रयत्न बिना द्रव्यलिंग धारण करे, तथापि मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। अरे जीव! सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों के बिना द्रव्यलिंग तो तूने अनंतबार धारण किया, उससे कुछ भी साध्य नहीं है।

'मुनिव्रतधार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

शुद्धभाव के बिना ही तू अनंतकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु शुद्धभावों को कभी नहीं भाया। इसलिये हे जीव! अब तो ऐसे शुद्धभाव को पहिचानकर उसकी भावना कर... हे मोक्षाभिलाषी! अब तो प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को अंगीकार कर। यही शिवपुरी का पंथ है।

मोक्षमार्ग में बीच में व्रतादि के विकल्प आते हैं और द्रव्यलिंग भी नग्न-दिगम्बरदशारूप ही होता है, तथापि वह कहीं शिवपुरी का पंथ नहीं है, शिवपुरी का पंथ तो एक शुद्धभाव ही है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—तीनों शुद्धभाव हैं और वही मोक्ष का साधन है। राग वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है; व्रतादि का शुभराग जैनधर्म नहीं है, जैनधर्म तो वीतरागी है; सम्यग्दर्शनादि शुद्धवीतरागभाव ही जैनशासन और जैनधर्म है; यह बात इस भाव-प्राभृत की ८३ वीं गाथा में आचार्यदेव स्पष्टरूप से कहेंगे।—इसप्रकार रागरहित शुद्ध वीतरागभाव (सम्यग्दर्शनादिक भाव) ही मोक्ष का कारण है।—ऐसा जानकर, हे शिवपुरी के पथिक! तू प्रयत्न द्वारा उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को अंगीकार कर, चैतन्यस्वभाव की शक्ति में एकाग्र होकर उसमें से शुद्धभाव प्रगट कर—ऐसा श्री जिनेन्द्रभगवान का उपदेश है।

★★★

अब अगली गाथाओं में आचार्यदेव कहेंगे कि—हे सत्पुरुष! सुन... हे सत् समझने को जिज्ञासावाले जीव! तू सुन...! तूने इस संसारपरिभ्रमण में अनंतबार द्रव्यलिंग धारण किया किन्तु सम्यग्दर्शन बिना तुझे कोई सिद्धि नहीं हुई। द्रव्यलिंग धारण करके भी... रे जीव! तूने मिथ्यात्वादिक भावों को ही भाया है, किन्तु सम्यक्त्वादिक शुद्धभावों को कभी एक क्षण भी नहीं भाया; उन शुद्धभावों को तूने प्रयत्नपूर्वक पहिचाना भी नहीं है; इसलिये अब उन शुद्धभावों को पहिचानकर उन्हीं की भावना कर! हे जीव! जिनभावना बिना अर्थात् शुद्धआत्मा की भावना बिना तूने अनंतबार चार गतियों के घोर दुःख सहे हैं, इसलिये अब तू जिनभावना भा!

—तत्सम्बन्धी गाथा ७-८ के वैराग्यपूर्ण प्रवचन अगले अंकों में प्रकाशित होंगे।

सर्वज्ञ का आदेश

भगवान सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञानस्वभाव को राग से पृथक् जाना... और उस ज्ञानस्वभाव का ही आदर करके उसमें एकाग्रता द्वारा सर्वज्ञता-वीतरागता और पूर्णानन्द प्रगट किया। पश्चात् भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। उस दिव्यध्वनि में भगवान ने क्या आदेश दिया ?

भगवान सर्वज्ञदेव ने जगत के भव्य जीवों को ऐसा आदेश दिया कि हे जीवो! तुम्हारा आत्मा भी ज्ञानस्वभावी है; राग तुम्हारा स्वभाव नहीं है, राग द्वारा हित नहीं होता; इसलिये राग का आदर छोड़ो और ज्ञानस्वभाव का ही आदर करो। ज्ञानस्वभाव के आदर द्वारा राग का अभाव करके सर्वज्ञता प्रगट करो।—इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने सर्वज्ञ होने का ही आदेश दिया है।

सर्वज्ञ का आदेश है कि हे जीव! यदि तुझे सचमुच मेरा आदर करना हो तो तू ज्ञानस्वभाव का आदर कर और राग का आदर छोड़। सर्वज्ञ के राग नहीं है, इसलिये राग के आदर द्वारा सर्वज्ञ का आदर नहीं होता। सर्वज्ञ का आदर करनेवाला जीव, राग का आदर कर ही नहीं सकता। जो राग से धर्म मानता है, उसने सर्वज्ञ की आज्ञा का अनादर किया है; और जिस जीव ने अपने ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट किया है, वह जीव सर्वज्ञता के मार्ग पर पहुँच गया है और उसी ने सचमुच सर्वज्ञदेव के आदेश का पालन किया है। वह जीव अवश्य ही अल्पकाल में सर्वज्ञ हो जायेगा।

(—पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

सोनगढ़ के समाचार

श्री कानजी स्वामी के द्वारा जैनधर्म की महान प्रभावना

एकसाथ १४ कुमारी बहनों की आजीवन ब्रह्मचर्यप्रतिज्ञा

विलासिता के ऊपर आध्यात्मिकता की महान विजय

हमारे साधर्मी बन्धुओं को यह महान समाचार देते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि इस दसलक्षणी पर्व के प्रथम दिन-भाद्रपद सुदी पंचमी को पू० श्री कानजी स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर छोटी-छोटी (१८ से २६ वर्ष की) उम्र की १४ कुमारिका बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्यप्रतिज्ञा अंगीकार की है। यह ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा जिस उद्देश से धारण की गई है, उसकी खास महत्ता है जो हम आगे दिखलायेंगे।

वैसे तो इस युग में पू० श्री कानजीस्वामी के द्वारा दि. जैनधर्म की महान प्रभावना के कार्य एक के बाद एक होते ही रहते हैं और हमारे साधर्मी बन्धु इससे कुछ-कुछ परिचित भी हैं। लेकिन बहुत से ऐसे भी प्रसंग बनते हैं जिनकी प्रसिद्धि सौराष्ट्र के बाहर बहुत कम होती है।

यह १४ बहिनों की ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेना—यह भी जैनधर्म की महान प्रभावना का कार्य एक ऐसा ही महान प्रसंग है। सिर्फ ब्रह्मचर्य पालन के शुभभाव में रुक जाने का इन बहिनों का उद्देश नहीं है। इनका उद्देश तो निवृत्त जीवनपूर्वक आत्महित की साधना करने का है। इसतरह किसी भी उपदेशक के प्रभाव से एकसाथ १४ कुमारी बहिनों ने सिर्फ आत्महित की साधना के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया हो, ऐसा हमारे सुनने में नहीं आया। इस महान प्रसंग पर से विवेकी जिज्ञासु अनुमान लगा सकेंगे कि पू० कानजी स्वामी का उपदेश कितनी सरलता से जीवों को आत्महित में लगा देता है, और वह उपदेश कितना वीतरागपूर्ण होगा। पूज्य स्वामीजी के उपदेश से अनेक जीवों के जीवन पलट जाते हैं।

जब एक साथ १४ लड़कियाँ 'ब्रह्मचर्य-दीक्षा' लेने के लिए पू. स्वामीजी के समक्ष खड़ी हुईं, उस वक्त का वैराग्यदृश्य बड़ा दर्शनीय था, मानो ये १४ कुमारिका बहिनों ने स्वामीजी के

अध्यात्मोपदेशरूपी बाण से संसार को जीत लिया हो और आध्यात्मिकता का विजयध्वज लहरा रही हों।

यह १४ बहिनों की तरह, सात वर्ष पहले अन्य ६ कुमारिका बहिनों ने भी आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली है। इसतरह ये २० कुमारिका बहिनें अभी सोनगढ़ में बस रही हैं।

इन सभी बहनों ने आत्महित के लिए सारा जीवन समर्पण करने का जो साहस किया है, उसमें पू० स्वामीजी का आत्मस्पर्शी उपदेश का तो मुख्य प्रभाव है ही, लेकिन वैसा ही महत्त्व का एक दूसरा भी कारण है—और यह है—दो बहिनों की शीतल छाया व वात्सल्य भरी हूंफ। पूज्य श्री चम्पाबहिन व पूज्य श्री शान्ताबहिन, ये दोनों बहिनों का (जिनका उल्लेख 'बेनश्री-बेन' ऐसे संयुक्त नाम से प्रायः किया जाता है उनका) धर्मरंग से रंगा हुआ सहज जीवन तो साक्षात् देखने से ही ख्याल में आ सकता है। ये दोनों बहिनों की पवित्रता, अनुभव, संस्कार, वैराग्य, और देवगुरुधर्म के प्रति अपार भक्ति, विनय व वात्सल्य आदि का वर्णन करने का यह प्रसंग नहीं; आज से पाँच वर्ष पहले जब कलकत्तावाले 'श्री वछराजजी शेठ व उनकी पत्नी मनफूलादेवी पहली बार ही सोनगढ़ आये और सिर्फ चार दिन ही स्वामीजी का आध्यात्मिक उपदेश सुना, व दोनों बहिनों की धर्ममय जीवनचर्या देखी, तो वे दोनों इतने प्रभावित हो गये कि उसी वक्त बहिनों के लिये आश्रम बनाने का निश्चय कर लिया और करीब रु. सवा लाख लगा करके सोनगढ़ में एक अच्छा आश्रम—'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविकाश्रम' बनाया—इसी आश्रम में पू० बेनश्री-बेनजी की हितकर छाया में अनेक बहिनें रहती हैं। जो आश्रम में नहीं रह सकतीं, वे भी आसपास ही रहती हैं। उनके जीवन में बेनश्री बेन अपार वात्सल्यपूर्वक निरंतर ज्ञान, वैराग्य का सींचन करती हैं, और देव-गुरु-धर्म की भक्ति के बारे में तो वर्तमानयुग में आपकी अतृतीयता है। इस तरह ये दोनों धर्म माताओं की गोद में रहकर के ही सभी लड़कियों ने जीवनसमर्पण करने यह बल प्राप्त किया है। इन सभी बहिनों ने अनेक वर्षों तक पू० स्वामीजी के उपदेश का श्रवण के उपरान्त अनेक शास्त्रों का अभ्यास भी किया है, और दर्शन पूजा-भक्ति आदि कार्य तो उनके लिए सहज है।

इन बहिनों के ब्रह्मचर्यप्रतिज्ञा के अवसर पर अनेक गाँवों से हजार उपरान्त लोग आये थे, बड़े-बड़े शहरों से अभिनंदन के तार व पत्र आये थे, और अनेक लोगों ने कुमारिका-ब्रह्मचर्याश्रम के लिये हजारों रुपयों की भेंट की थी।

इस अवसर पर इंदौर से पंडित नाथुलालजी अपने पत्र में अभिनन्दन देते हुए प्रमोदपूर्वक

लिखते हैं कि—

'बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और श्री पार्श्वनाथ के पश्चात् श्री महावीर स्वामी का यह तीर्थकाल है, तथा बालब्रह्मचारी श्री पूज्य कानजी स्वामीजी का अपूर्व वाणी का प्रभाव है जिनके आदर्श का मूर्तरूप सौराष्ट्र के अनेक तरुण बालब्रह्मचारी बन्धुओं में दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीप्रकार ब्राह्मी-सुन्दरी और राजीमती के आदर्श को कार्यान्वित करनेवाली सोनगढ़ में विद्यमान २० बालब्रह्मचारिणी बहनें तथा युवावस्था में ही ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेवाले अनेक दम्पति भगवान महावीर के तीर्थ की प्रभावना कर उसे सार्थक बना रहे हैं। नि:सन्देह आज यह भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय है।

—धन्य हैं श्री पूज्य स्वामीजी और श्री पूज्य बहनश्री बहन!'

पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा परम हितकर जैनधर्म की और वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की जो विजयध्वजा आज लहरा रही है, उसे देखकर कोई भी जिज्ञासु धर्मवत्सलजीव का हृदय प्रमोद से पुलकित हुए बिना नहीं रह सकता।

अन्त में हमारे सुदूरवर्ती साधर्मी बन्धुओं के प्रति हम यही भावना भाते हैं कि—वे अपने जैनशासन के यह एक अतिमूल्यवान रत्न को पहिचाने, इनके द्वारा ही जैनधर्म प्रभावना को देखकर प्रमोदित होवे और हरेक आत्मार्थी जीव अपने आत्माहित के लिए इनका जितना भी लाभ ले सकें अवश्य लेवें।

विवेकीजन हित के अवसर में प्रमाद नहीं करते॥

इस बारे में विस्तृत समाचार आगामी अंक में

भगवान का उपदेश

[चारित्रपाहुड़ गाथा ५ के प्रवचन से]

सर्वज्ञदेव द्वारा उपदेशित तत्त्वों में सम्यक्त्वी को नि:शंकता होती है। सर्वज्ञ भगवान ने जीवादि सात तत्त्वों का उपदेश दिया है।

सात तत्त्वों में प्रथम जीवतत्त्व है; वह जीवतत्त्व ज्ञानानन्दस्वभावी है; वह ज्ञानानन्दस्वभाव शुद्ध-एकाकार है।

उस स्वरूप ज्ञानानन्दस्वभाव के अवलम्बन से जहाँ पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो, वह मोक्ष है और ऐसी मोक्षदशा प्रगट होने से कर्मों का सर्वथा अभाव हो ही जाता है—ऐसा स्वरूप नियम है।

अब, मोक्ष की भाँति संवर-निर्जरा में भी ऐसा ही है। एकरूप नियम है।

इसप्रकार जीवोन्मुखतावाले संवर-निर्जरा और मोक्षतत्त्व में तो ऐसा मेल है कि उसके प्रमाण में कर्म भी दूर हो ही जाते हैं।

—किन्तु कहीं ऐसा नियम नहीं है कि जितने प्रमाण में कर्मों का उदय हो, उतने ही प्रमाण (Degree to Degree) विकार हो।—जितने प्रकार के विकार हैं, उतने प्रकार के निमित्त (कर्म में) होते हैं; किन्तु जितने प्रमाण में कर्मों का उदय हो, उतने ही प्रमाण में जीव को विकार हों—ऐसा नियम नहीं है। अत: उदयानुसार ही विकार होता है—यह मान्यता बिलकुल विपरीत है।

जिसप्रकार विकार भावों में विविधता है, उसीप्रकार उसके निमित्तभूत कर्मों में भी उतनी ही विविधता है—किन्तु उदय के प्रमाण में ही विकार होता है—ऐसा नहीं है। इसप्रकार उदय और विकार के प्रकार एक-से हैं, किन्तु दोनों का प्रमाण एक-सा हो ऐसा नहीं है।

यदि नवीन बंध हो तो विकार के प्रमाण में ही होता है, कम-अधिक नहीं होता—ऐसा नियम है; वहाँ तो डिग्री टू डिग्री है; किन्तु सामने जितना उदय हो, उतना ही विकार (डिग्री टू डिग्री) हो—ऐसा कोई नियम नहीं है।

संवर-निर्जरा-मोक्ष, इन तीनों में शुद्धता है; उसमें तो आत्मा के एकरूप स्वभाव के साथ एकता होती है, और सामने निमित्त में भी उन संवर-निर्जरा मोक्ष के प्रमाण में ही (डिग्री टू डिग्री) कर्म टल जाते हैं—ऐसा ही नियम है। मोक्षदशा प्रगट हो और उसीसमय सामने कर्मों का सर्वथा

नाश न हो—ऐसा नहीं हो सकता। संवर-निर्जरा हो और सामने उतने ही प्रमाण में कर्म न टलें—ऐसा नहीं हो सकता। सम्यक्दर्शन हो जाये और उससमय मिथ्यात्व-कर्म दूर न हो—ऐसा नहीं हो सकता।

अहो! जहाँ शुद्ध चिदानन्दस्वभाव में एकता की, वहाँ कर्म न टलें—ऐसा नहीं होता; कर्म मार्ग न दें—ऐसा नहीं हो सकता। 'कर्म मार्ग नहीं देंगे तो?'—ऐसा प्रश्न आत्मस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को उठता ही नहीं। वह तो स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा ज्यों-ज्यों ज्ञानस्वभाव में एकता करता जाता है, त्यों-त्यों कर्म भी दूर होते जाते हैं।—इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से शुद्धता होती जाती है, उसे धर्मी जानता है और जितनी शुद्धता अटके, उतना अपना अपराध जानता है, तथा उस अपराध में उस-उसप्रकार का कर्म निमित्त है—ऐसा भी जानता है; किन्तु कर्मोदयानुसार विकार होता है—ऐसा ज्ञानी धर्मी कभी नहीं मानते। स्वभाव के अवलम्बन द्वारा शुद्धता बढ़ती जाती है, कर्म टलते जाते हैं और अंत में पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा प्रगट होने पर कर्म भी सर्वथा छूट जाते हैं।—इसप्रकार आत्मा के एकाकार ज्ञानानन्दस्वभाव में एकता करना ही मोक्ष का मार्ग है।—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का उपदेश है और सम्यक्त्वी उसमें निःशंक है। जिसे शंका है, वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी